



“ऋग्वैदिक 'ऋत' की अवधारणा पर पाश्चात्य चिन्तकों के अनुसंधान का विश्लेषणात्मक विवेचन”

रामानन्द कुलदीप

सह-आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग

सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर (राज.)

शोध सारांश

ऋग्वेद में प्रतिपादित ऋत की अवधारणा न केवल भारतीय विद्वानों बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी से वर्तमान तक पाश्चात्य विद्वानों के भी अध्ययन का केन्द्र बिन्दु रही है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपने वैदिक अध्ययन में इस अवधारणा का विवेचन किया है। पाश्चात्य विद्वानों का अध्ययन मुख्यतः भाषाशास्त्रीय था। मैक्समूलर द्वारा प्रारम्भ किए गए भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन से होरेस हेमन विल्सन के सायणानुगामी अनुवाद से होते हुए, हेर्मन ओल्डनबर्ग द्वारा प्रतिपादित नैतिक-भौतिक द्वैत, हेर्मन लुडर्स के विवादास्पद ऋत-सत्य तादात्म्य सिद्धान्त, आर्थर कीथ, मोरिस ब्लूमफील्ड, डब्ल्यू नॉर्मन ब्राउन एवं जैमिसन-ब्रेटन के समालोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन तक – यह अध्ययन ऋत की व्याख्या के विविध रूपों तक पहुँचता है। इनके अध्ययन में ऋत के निरन्तर विकास के दिखाई देने के साथ-साथ आन्तरिक वाद-विवाद भी दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तुत आलेख में उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों के अनुसंधान का क्रमिक तथा विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है। इन विद्वानों के मध्य के मौलिक मतभेदों, विशेषतः ऋत को 'व्यवस्था' अथवा 'सत्य' के रूप में देखने के प्रश्न को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। यह अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसंधान ने यद्यपि ऋत के भाषाशास्त्रीय तथा तुलनात्मक स्वरूप को अधिक समृद्ध किया है, परन्तु भारतीय टीका-परम्परा की दृष्टि से ऋत की व्याख्या में भिन्नता व दुर्बोधता भी दिखाई देती है।

बीज शब्द: ऋत, धर्म, सत्य, ब्रह्माण्डीय व्यवस्था, नैतिक अनुशासन, भाषाशास्त्रीय विश्लेषण

सम्पूर्ण आर्य-संस्कृति और हिन्द-यूरोपीय भाषा परिवार की सर्वाधिक प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यिक अमूल्य धरोहर के रूप में ऋग्वेद सर्वमान्य है। इसकी वैचारिक आधारभूमि के रूप में दार्शनिक दृष्टि और ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त के रूप में 'ऋत' की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मोरिस ब्लूमफील्ड के अनुसार 'ऋत' की अवधारणा ऋग्वेद की सर्वाधिक धार्मिक चेतना से

युक्त अवधारणा है, जिसके उद्भव और क्रमिक विकास से ही हिंदू दार्शनिक चिन्तन के इतिहास का आरम्भ माना जाना चाहिए।¹

'ऋत' की अवधारणा का महत्व एक सर्वव्यापी एवं केंद्रीय सिद्धान्त के रूप में इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद संहिता में 'ऋत' शब्द 390 से अधिक बार आया है।

ब्रह्माण्डीय एवं तात्त्विक परिप्रेक्ष्य में ऋत एक ऐसी त्रिआयामी व्यवस्था के रूप में सामने आता है जो भौतिक सृष्टि, नैतिक अनुशासन और यज्ञीय अनुष्ठानों को परस्पर एकाकार करती है। इस वैश्विक सुव्यवस्था के क्रियान्वयन में ऋग्वेद के तीन प्रमुख सिद्धान्त निःसृत होते हैं – प्रथम 'गति' का सिद्धान्त, जो निरन्तर प्रवाह व प्रगति का सूचक है; द्वितीय 'संघटन' (Samghaṭnā), जो ब्रह्माण्ड के विभिन्न तत्वों के अन्तर्सम्बन्धों को सुदृढ़ता प्रदान करता है; और तृतीय 'नियति' (Niyati), जो सृष्टि में अन्तर्निहित नियमबद्धता, सामंजस्य और संतुलन की व्याख्या करती है। वैदिक साहित्य के इन रहस्यों को सुलझाने और उद्घाटित करने के लिए आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाविदों तथा वेदवेत्ताओं ने धातु-व्युत्पत्ति एवं ऐतिहासिक अनुसंधान पद्धतियों का आश्रय लिया। इस वैचारिक यात्रा में पाश्चात्य विद्वानों के योगदान पर दृष्टि डालें तो एच.एच. विल्सन, मोनियर विलियम्स, हेर्मन ग्रासमान, मैक्समूलर, एबेल बर्जिने, कार्ल फ्रेडरिक गेल्डनर और आर.टी.एच. ग्रिफिथ जैसे युगान्तकारी विद्वानों का योगदान अत्यन्त विविध और स्मरणीय है।

'ऋत' की भाषाशास्त्रीय व्युत्पत्ति और पाश्चात्य अनुसंधान की चुनौतियाँ

किसी भी अवधारणा का मूलार्थ जानने हेतु धातु-व्युत्पत्ति पद्धति पर बल देना आवश्यक माना जाता है, और ऐसा ही पाश्चात्य वेदवेत्ताओं द्वारा 'ऋत' के मौलिक निहितार्थ को प्रकट करने के लिए किया गया। इस दृष्टिकोण के मूल में यह धारणा कार्य कर रही थी कि किसी शब्द के मूल धातु-स्रोत को खोजकर उसके गहन दार्शनिक स्वरूप को आसानी से समझा जा सकता है। भारोपीय भाषाविज्ञानियों के सर्वमान्य निष्कर्षों के अनुसार 'ऋत' की उत्पत्ति मूल धातु '√ऋ' से हुई, जिसका अर्थ है – “सुव्यवस्थित होना, सुसंगत होना अथवा अनुकूल होना”। इसी व्युत्पत्तिपरक तर्क के आधार पर 'ऋत' का प्रारंभिक अर्थ 'सत्य', 'सम्यक' या 'अनुकूल' (True, Correct, Fitting) निश्चित किया गया। इसका विपरीतार्थक रूप 'अनृत' है, जिसका अर्थ असत्य, अराजकता और विकार के रूप में किया जाता है। लेकिन केवल धातु-व्युत्पत्ति विश्लेषण पर आश्रित रहने से 'ऋत' का अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

भारतीय विद्वान एवं अनुसंधानकर्ता वी.एम. आप्टे ने प्रतिपादित किया कि 'ऋत' के प्रारंभिक या मूल अर्थ को भौतिक एवं स्थानिक धरातल पर ही ग्रहण किया जाना उचित होगा।² उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा कि 'ऋत' ऋग्वेद में केवल एक स्थूल वैचारिक नियममात्र नहीं है, बल्कि वह भौतिक गुणों – जैसे

¹Bloomfield, Maurice, The Religion of the Veda, New York: G.P. Putnam's Sons, 1908, पृ. 25.

²Apte, V.M., “On the Meaning of Rta”, Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, पृ. 15.

स्थान, आयाम, सीमा और विस्तार – से युक्त सत्ता है, जिसका अर्थ लगाया जा सकता है “सटीक रूप से निर्धारित किया गया मार्ग”।³ लुडर्स ने 'ऋत' को 'रूपांतरण के शाश्वत नियम' अथवा 'सृजनशीलता की गतिशीलता' के रूप में परिभाषित किया।⁴

पश्चिमी विद्वानों की 'ऋत' की व्याख्या में गहन अध्ययन व विश्लेषण के अभाव में कहीं-कहीं संकुचित व्याख्या भी दिखाई देती है। इन्होंने अंग्रेजी या जर्मन संज्ञाओं (जैसे Law, Order, Truth) को 'ऋत' का पूर्ण समानार्थी मान लिया, जबकि वस्तुतः ऋत इन संकुचित शब्दों से कहीं अधिक व्यापक एवं विराट आध्यात्मिक चिंतन को समेटे हुए है। फिर भी इन विद्वानों द्वारा अपने-अपने दृष्टिकोण, दार्शनिक प्राथमिकताओं एवं शोध पद्धतियों के आधार पर 'ऋत' की जो व्यक्तिगत व्याख्याएं की गई हैं, वे 'ऋत' के विविध आयामों को प्रकट करती हैं।

होरेस हेमन विल्सन ने 1950 के दशक में ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। विल्सन की अनुवाद शैली का आधार सायणाचार्य की पारम्परिक व्याख्याएं थीं। विल्सन का स्वयं पर यह दृढ़ विश्वास था कि भारतीय परम्परा में रचे गए वेदों के मर्म को समझने में वे किसी भी अन्य पाश्चात्य विद्वान से अधिक सक्षम हैं। सायणाचार्य ने 'ऋत' के विविध अर्थ किए हैं, जिनमें 'यज्ञ', 'जल', 'कर्मफल', 'स्तुति' और 'गति' प्रमुख हैं। विल्सन ने सायण का अनुकरण करते हुए अधिकांश ऋचाओं में 'ऋत' का अर्थ 'जल' के रूप में किया। उदाहरणार्थ, जहाँ देवताओं को 'ऋतगोपा' (ऋत का रक्षक) कहा गया, वहीं विल्सन ने सायण के आधार पर उसका अनुवाद 'यज्ञ के रक्षक' किया। विल्सन द्वारा किया गया यह अनुवाद यद्यपि कर्मकाण्डीय दृष्टि से उचित था, परन्तु इससे 'ऋत' की सार्वभौमिक ब्रह्माण्डीय व्यवस्था तथा नैतिक आयाम दब जाते हैं। इसलिए विल्सन की व्याख्या इस दृष्टि से अपूर्ण व सीमित रह जाती है।

यह तथ्य उल्लेखनीय है कि स्वयं विल्सन ने अपनी टिप्पणियों में यह आशंका व्यक्त की है कि 'ऋत' की किसी एकल, तकनीकी अथवा दार्शनिक-नैतिक व्यवस्था के रूप में की गई व्याख्या संभवतः परवर्ती विकास है, न कि मूल वैदिक प्रयोग।⁵

विल्सन के द्वारा किया गया यह अवलोकन 'ऋत' के भाषाशास्त्रीय विश्लेषण की पाश्चात्य दृष्टि पर एक प्रश्न-चिन्ह लगाता है।

जर्मन विचारक हेर्मन ओल्डनबर्ग ने अपनी रचना 'डी रेलिजिओन देस वेद' (Die Religion des Veda) में 'ऋत' के विवेचन हेतु एक अलग अध्याय की रचना की। ओल्डनबर्ग के अध्ययन का एक निष्कर्ष यह था कि वैदिक चिन्तन में भौतिक तथा नैतिक क्षेत्र मौलिक रूप से अविभाज्य हैं। उन्होंने कहा कि

³वही, पृ. 18.

⁴Lüders, Heinrich, Varuṇa, Göttingen: Vandenhoeck & Ruprecht, 1951-59, पृ. 402.

⁵Wilson, Horace Hayman, "Is the Rigveda Translatable?", निबन्ध.

“सूर्य का नियमित उदय तथा मनुष्य का सदाचरण दोनों एक ही अन्तर्निहित मूल सिद्धान्त की अभिव्यक्तियाँ मानी जाती थीं।”⁶

ओल्डनबर्ग ने बहुत ही सुंदर तरीके से अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा कि वरुण, जो ऋत के प्रमुख संरक्षक देवता माने गए, एक ही साथ ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के पर्यवेक्षक तथा मानव-आचरण के नैतिक न्यायाधीश भी थे। वैदिक चिन्तकों की दृष्टि में यहाँ कोई द्वैत नहीं था। यदि ओल्डनबर्ग के अध्ययन का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि उन्होंने ऋत के अध्ययन को केवल शब्द-व्युत्पत्ति अथवा पौराणिक विवरण तक सीमित नहीं माना, बल्कि एक गहन दार्शनिक रूप में प्रतिष्ठित किया। ऋत सिद्धान्त में अद्वैत की प्रवृत्ति निहित है – यही वैदिक चिन्तकों की मूल धारणा थी।

वैदिक चिन्तन में 'ऋत सिद्धान्त' प्रत्येक वैदिक अध्येता के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहा है। पाश्चात्य विचारकों में एक अन्य महत्वपूर्ण विद्वान हेर्मन लुडर्स का नाम सम्मिलित है।

हेर्मन लुडर्स ने वैदिक अध्ययन व चिन्तन की अत्यन्त महत्वपूर्ण दो ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'ऋत' की परम्परागत व्याख्या को अपर्याप्त मानते हुए उन्होंने सर्वाधिक विस्तृत व विवादास्पद अध्ययन प्रस्तुत किया। अपने ग्रन्थ 'वरुण' (1951-59) में 'ऋत' का मूल अर्थ “सत्य से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है” माना।⁷ इन्होंने 'ऋत' के 'कॉस्मिक ऑर्डर' के अर्थ को गौण करते हुए उसे 'सत्य' का ही पर्याय माना। उन्होंने अपनी इसी रचना में कहा कि “ऋत तथा सत्य में कोई गुणात्मक भेद नहीं, अपितु पूर्ण तादात्म्य है”।⁸

उनके अनुसार ऋत का मूलतः सम्बन्ध नदियों के “सही मार्ग” से था – वरुण मूलतः जल-देवता ही थे, जो नदियों को उनके नियत, सत्य मार्ग पर प्रवाहित रखते थे। इनके अनुसार यहीं से ऋत का विस्तार नैतिक-ब्रह्माण्डीय सत्य तक हुआ।

लेकिन लुडर्स की यह स्थापना भारतीय व पाश्चात्य विद्वत् जगत में आलोचना का विषय बनी। भारतीय विद्वान आर.एन. डाण्डेकर ने आलोचना करते हुए कहा कि ऋत व सत्य पूर्णतः पर्यायवाची नहीं हैं। डाण्डेकर के अनुसार अनेक वैदिक मन्त्रों में ऋत तथा सत्य दोनों शब्द साथ-साथ, एक-दूसरे से भिन्न अर्थ धारण करते हुए प्रयुक्त हुए हैं, जिन्हें केवल काव्यात्मक द्वैत-आवृत्ति मानकर टाला नहीं जा सकता।⁹

डाण्डेकर का प्रमुख तर्क यह है कि यदि ऋत और सत्य पूर्णतः समानार्थी होते, तो एक ही मंत्र में दोनों के साथ-साथ प्रयोग की कोई अर्थवत्ता नहीं होती।

⁶Oldenberg, Hermann, Die Religion des Veda, Berlin: Verlag von Wilhelm Hertz, 1894, पृ. 195.

⁷Lüders, Heinrich, Varuṇa, Göttingen: Vandenhoeck & Ruprecht, 1951-59, पृ. 404.

⁸वही, पृ. 410.

⁹Dandekar, R.N., Vedic Mythological Tracts, Delhi: Ajanta Publications, 1979, पृ. 218.

ओल्डनबर्ग और गोन्डा ने लुडर्स की 'जल-केन्द्रित' अवधारणा को अत्यन्त सीमित माना है, क्योंकि उनके अनुसार 'ऋत' का अर्थ-क्षेत्र प्रारम्भ से ही ऋतु-क्रम, यज्ञ और नैतिक व्यवस्था तक विस्तृत था, न कि केवल जल-प्रवाह से उत्पन्न अर्थ तक सीमित।¹⁰

भारतीय भाष्य-परम्परा में, विशेषकर सायणाचार्य के ऋग्वेद-भाष्य में, ऋत को सत्य, यज्ञ और धर्म के त्रिविध संदर्भ में देखा गया था। लेकिन लुडर्स का ऋत-विषयक चिन्तन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि उन्होंने ऋत को उसकी मूल प्राकृतिक प्रतिमानों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। इस दृष्टि से उनका चिन्तन वैदिक अवधारणाओं की पाश्चात्य व्याख्या-परम्परा को एक भिन्न व नई दिशा प्रदान करता है।

एक अन्य पाश्चात्य विद्वान एडवर्ड वाशबर्न हॉपकिंस ने अपनी कृति 'एथिक्स ऑफ इण्डिया' में 'ऋत' को भारतीय नैतिक चिन्तन के आदि स्रोत के रूप में विवेचित किया।¹¹

हॉपकिंस ने ऋत की अवधारणा को उत्तरवर्ती वैदिक तथा औपनिषदिक साहित्य में 'ऋण' (दायित्व) तथा 'धर्म' (कर्तव्य) जैसी अवधारणाओं में क्रमिक रूप से विकसित होता हुआ दिखाया। इस दृष्टि से उन्होंने ऋत को स्थिर तात्त्विक श्रेणी न मानकर एक विकासशील नैतिक-चेतना का आरम्भिक बिन्दु माना, जिसने भारतीय नैतिक चिन्तन को दिशा प्रदान की।

आर्थर बेरीडेल कीथ ने समस्त पाश्चात्य विद्वत् मतों का संश्लेषणात्मक पुनरावलोकन प्रस्तुत किया। कीथ ने ऋत व अन्य वैदिक चिन्तन के संदर्भ में किसी एक व्याख्या-पद्धति को – चाहे वह ओल्डनबर्ग की भौतिकतावादी हो या लुडर्स की अंतर्ज्ञानवादी व्याख्या – अन्तिम मानने से इंकार किया। उन्होंने अपनी कृति 'द रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद्स' में कहा कि "ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न स्तरों तथा मण्डलों में ऋत का प्रयोग पर्याप्त रूप से विषम है; किसी एक परिभाषा का आग्रह पाठ की जटिलता के साथ अन्याय है।"¹²

कीथ की दृष्टि बहुलतावादी है, जो ऋत को संदर्भ के अनुसार अनेक अर्थों में ग्रहण करती है।

मोरिस ब्लूमफील्ड का ऋत-सम्बन्धी चिन्तन भी स्मरणीय है। संस्कृत के मर्मज्ञ अमेरिकी विद्वान मोरिस ब्लूमफील्ड ने अपनी रचना 'द रिलिजन ऑफ द वेद' में ऋत को ऋग्वेद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण

¹⁰Gonda, Jan, The Vision of the Vedic Poets, The Hague: Mouton, 1963, पृ. 118.

¹¹Hopkins, Edward Washburn, Ethics of India, New Haven: Yale University Press, 1924, पृ. 2, 40-44.

¹²Keith, Arthur Berriedale, The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads, Cambridge: Harvard University Press, 1925, पृ. 31-32.

धार्मिक अवधारणाओं में से एक बताते हुए कहा कि “हिन्दू धर्म के इतिहास का अध्ययन वस्तुतः इसी अवधारणा के इतिहास से आरम्भ होना चाहिए।”¹³

ब्लूमफील्ड का यह कथन इस बात का प्रमाण है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पाश्चात्य चिन्तन-जगत में 'ऋत' को केवल शाब्दिक जिज्ञासा के विषय के रूप में ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय धार्मिक व नैतिक चिन्तन के मूल बीज के रूप में स्वीकार कर लिया गया था।

पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के प्रख्यात विद्वान डब्ल्यू नॉर्मन ब्राउन ने अपने चर्चित व प्रभावशाली शोध-पत्र में यह प्रतिपादित किया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन में 'कर्तव्य' की संपूर्ण अवधारणा वस्तुतः 'सत्य' पर ही आधारित है, तथा 'ऋत', 'सत्य' एवं 'धर्म' एक ही श्रृंखला की क्रमिक कड़ियाँ हैं।¹⁴

ब्राउन का यह चिन्तन पूर्ववर्ती भाषाशास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा अधिक विस्तृत व सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करता है। यह अध्ययन सिद्ध करता है कि 'ऋत' का अध्ययन अमेरिकी इंडोलॉजी में भी जर्मन परम्परा जितना ही महत्वपूर्ण था।

आधुनिक पाश्चात्य विचारकों में जैमिसन तथा ब्रेटन अग्रणी हैं, जिन्होंने 'द ऋग्वेद' (The Rigveda) नामक अनुवाद-ग्रन्थ तीन खण्डों में रचा। इन्होंने ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त को एक स्वतंत्र रचनात्मक इकाई मानकर प्रसंग-विशिष्ट विश्लेषण किया। इससे किसी शब्द का कोई स्थिर पारिभाषिक अनुवाद न कर, प्रसंग-सापेक्ष व्याख्या-प्रौली को अपनाकर अधिक सटीक व तार्किक विश्लेषण संभव हो पाया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि 'ऋत' मूलतः बहुअर्थकता-युक्त शब्द है।

आलोचनात्मक विश्लेषण

मेरे इस शोध आलेख में उन प्रमुख पाश्चात्य विचारकों को समाहित किया गया है, जिनका 'ऋत' पर भारतीय चिन्तन को प्रभावित करने वाला कार्य है। अन्य बहुत सारे विद्वानों का उल्लेख शब्द-सीमा के कारण संभव न हो सका।

परन्तु उपर्युक्त विश्लेषण से यह इंगित होता है कि पाश्चात्य वैदिक अध्ययन ने 'ऋत-सिद्धान्त' अथवा 'ऋत की अवधारणा' को कम से कम तीन दिशाओं में समृद्ध किया। एक, तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय पद्धति ने 'ऋत' को इंडो-यूरोपीय एवं इंडो-ईरानी संदर्भों में स्थापित किया, जिससे ऋत-विचार की प्राचीनता एवं गहनता स्पष्ट हुई; यह भी सिद्ध हुआ कि ऋत की अवधारणा सार्वभौमिकता लिए हुए थी। दूसरी, ऋत के संरचनात्मक-दार्शनिक विश्लेषण ने ऋत, सत्य और धर्म के अन्तर्सम्बन्धों की गहन जांच की, यद्यपि इस जांच का कोई सर्वसम्मत परिणाम नहीं निकला। तीसरी, समकालीन भाषाशास्त्रीय

¹³Bloomfield, Maurice, The Religion of the Veda, New York: G.P. Putnam's Sons, 1908, पृ. 27.

¹⁴Brown, W. Norman, "Duty as Truth in Ancient India", Proceedings of the American Philosophical Society, Vol. 116, No. 3, 1972, पृ. 252-268.

पुनर्मूल्यांकन ने एकल पारिभाषिक अनुवाद की खोज को ही प्रश्नांकित करते हुए प्रसंग-सापेक्ष बहुअर्थकता को ही वैध ठहराया।

यह स्मरणीय है कि पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान मूलतः ऋग्वेद के मंत्र-स्तर तक ही सीमित रहा, जबकि ऋत की अवधारणा भारतीय परम्परा में ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के माध्यम से लगातार विकासशील रही है। पाश्चात्य विद्वानों ने अपने अध्ययन व विश्लेषण को संहिता तक ही सीमित रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि ऋत के उस दीर्घकालिक अर्थ-विकास और दार्शनिक गूढ़ता की उपेक्षा हो गई, जो आगे भारतीय वाङ्मय में विकसित हुई। अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ऋत की सम्पूर्ण दार्शनिक परिणति को समझने के लिए सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का समवेत अध्ययन अपेक्षित है।

'ऋत' की अवधारणा की यथार्थता, दार्शनिक गूढ़ता तथा नैतिक समस्याओं के समाधान की उसकी क्षमता को जानने व समझने के लिए भारतीय टीका-परम्परा तथा पाश्चात्य भाषाशास्त्रीय कठोरता को परस्पर पूरक साधनों के रूप में नियोजित किया जाना चाहिए।